

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुरु-शिष्य सम्बन्ध

डा. सावित्री तड़ागी,

एसोसिएट प्रोफेसर/विभागाध्यक्ष (शिक्षा शास्त्र),
विद्यान्त हिन्दू पी.जी. कालेज, लखनऊ।



भारत के स्वर्णिम इतिहास में गुरु-शिष्य परम्परा के लिए अपना सर्वस्व दौंव पर लगा देने वाले अनेक गुरु व शिष्य रहे हैं। भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य की महान परम्परा के अन्तर्गत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देता है या किसी अन्य विद्या में निपुण करता है। बाद में वही शिष्य गुरु के रूप में दूसरों को शिक्षा देता है। यही क्रम लगातार चलता रहता है। यह परम्परा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है। गुरु-शिष्य की यह परम्परा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है। भारतीय संस्कृति में गुरु का बहुत अधिक महत्व है। "गु" शब्द का अर्थ है अंधकार या अज्ञान और "रु" शब्द का अर्थ है प्रकाश अथवा ज्ञान। अर्थात् अज्ञान को नष्ट करने वाला

जो ब्रह्म रूप प्रकाश है। वह गुरु है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह कुशलतापूर्वक होता रहा है। भारतीय संस्कृति में गुरु को अत्यधिक सम्मानित स्थान प्राप्त है। भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालें तो उसमें गुरु की भूमिका समाज को सुधार की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक के रूप में होने के साथ क्रान्ति को दिशा दिखाने वाली भी रही है। भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना गया है, जो कि निम्न श्लोक से स्पष्ट हो आता है।

**"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः, गुरुः साक्षात्
परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।"**

प्राचीन भारतीय संस्कृति में गुरु और शिष्य के संबंधों का आधार था गुरु का ज्ञान, मौलिकता और नैतिक बल, उनका शिष्यों के प्रति स्नेह भाव, तथा ज्ञान बांटने का निःस्वार्थ भाव। यह भावना उस समय के हर शिक्षक में होती थी। उस समय के शिष्य भी गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पणभाव के साथ आज्ञाकारी होते थे। अनुशासन को शिष्य का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण गुण माना गया है।

गुरु-शिष्य परम्परा आध्यात्मिक प्रज्ञा का नई पीढ़ियों तक पहुंचाने का सोपान है। यह परम्परा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है। गुरु-शिष्य की यह परम्परा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है, जैसे- अध्यात्म, संगीत, कला, वेदाध्ययन, वास्तु आदि। भारतीय संस्कृति में गुरु का बहुत महत्व है।

आचार्य चाणक्य ने एक आदर्श विद्यार्थी के 05 गुण इस प्रकार बताये हैं-

“काकचेष्टा बको ध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।

**अल्पहारी गृहत्यागी विद्यार्थी
पञ्चलक्षणम्”**

प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के बीच केवल शाब्दिक ज्ञान का ही आदान प्रदान नहीं होता था बल्कि गुरु अपने शिष्य के संरक्षक के रूप में भी कार्य करता था। शिष्य को यह विश्वास था कि गुरु उसका कभी अहित सोच नहीं सकते और इसी कारण उसमें गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण भाव दृष्टिगोचर होता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण जी ने गुरु-शिष्य परम्परा को “परम्पराप्राप्तम योग” बताया है। गुरु शिष्य परम्परा का आधार सांसारिक ज्ञान से शुरू होता है, परन्तु इसका चरमोत्कर्ष आध्यात्मिक शाश्वत आनंद की प्राप्ति है, जिसे ईश्वर-प्राप्ति व मोक्ष प्राप्ति भी कहा

जाता है। बड़े भाग्य से प्राप्त मानव जीवन का यही अंतिम व सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए।

प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा शिक्षा शब्द का प्रयोग व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थों में किया गया है। डा. ए. एस. अल्तेकर के अनुसार व्यापक अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को सम्यक् व उन्नत बनाना है। इस दृष्टि से शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। सीमित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय उस औपचारिक शिक्षा से है जो व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व छात्र रूप में गुरु से प्राप्त होती है। इस प्रकार वैदिक कालीन शिक्षा से तात्पर्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास है।

वैदिक कालीन शिक्षा महत्व प्राचीन भारतीयों का विचार था कि शिक्षा वह प्रकाश है जिसके द्वारा व्यक्ति के सब संशयों का उन्मूलन तथा सब बाधाओं का निवारण हो जाता है। वह वास्तविक शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति की बुद्धि विवेक एवं कुशलता में वृद्धि होती है। शिक्षा ही जीवन यथार्थ के महत्व को समझने की क्षमता प्रदान करती है जिससे व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैदिक कालीन शिक्षाविदों ने शिक्षा के वास्तविक महत्व को स्वीकार किया तथा घोषणा की कि विद्ययामृतमश्नुते। अर्थात् विद्या से अमृतत्व, परमानन्द एवं मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। वैदिक कालीन ऋषियों का ध्यान लौकिक दिशा की ओर भी था इसलिए उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से शिक्षा की व्यवस्था की थी।

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

त्तो भूयडव ते तमो ये विद्यारता।।

अर्थात् वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो मात्र विद्या की उपासना करते हैं। वे एकांगी होते हैं जो मात्र विद्या में रत रहते हैं। अतः भौतिक, आध्यात्मिक दोनों विद्याओं की उपासना की गई थी।

डा. ए. एस. अल्तेकर ने इसके महत्व पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है—“शिक्षा को रोशनी और स्वर का एक स्रोत माना जाता था, जो हमारे शारीरिक मानसिक बौद्धिक और आध्यात्मिक पक्षों और संकायों के प्रगतिशील और सामंजस्यपूर्ण विकास के दवारा हमारी प्रकृति को बदल देता है और आनंदित करता है।

वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था

वैदिक काल पूर्व वैदिक काल अथवा ऋग्वैदिक तथा उत्तरवैदिक (जो यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववे, के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् आदि की रचना काल था) के भेद से दो भागों में बंटा था। भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा द्वारा ऋषियों को मंत्रों का प्रकाश दिया गया। वे मंत्र उस ऋषि के पुत्रों एवं शिष्यों के माध्यम से कुल की परम्परा में सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार प्रत्येक ऋषि कुल एक लघु विद्यालय के समान था जहाँ रहकर विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। आचार्य उपनयन संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी को अपनी रक्षा में लेता था।

“गुरुकुलों में ऋषियों दवारा पाठ को कण्ठस्थ कराया जाता था। प्रवचन तथा उच्चारण पर बल दिया जाता था तथा तप, आत्मदर्शन की युक्ति, प्रवचन तथा उच्चारण पर बल दिया जाता था।” मानसिक चिन्तन तथा ध्यान से ज्ञान प्राप्त कराया जाता था। शिक्षण पद्धति में पाठों का उच्चारण, भाष्य व्याख्या तथा वाद-विवाद सम्मिलित थे। जो देश में वास्तविक ज्ञान का प्रचार करने वाले ‘चरक’ विद्वान थे वो देश में वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे। शिक्षा के निमित्त पंचाल परिषद नामक संस्थाएं थीं। इसके अतिरिक्त विद्वत्सभाओं का भी आयोजन हुआ करता था जैसे – राजा जनक की सभा जिसमें प्रमुख विद्वान याज्ञवल्क्य थे।

शिक्षकों की स्तर वैभिन्नता

वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था विभिन्न श्रेणियों में गुरुओं का विभाजन करती थी। शिक्षकों के पर्याय के रूप में कुलपति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, पाठक, अध्यापक, श्रोत्रिय, गुरु, ऋत्विक्, चरक आदि का विभाजन उनकी योग्यतानुसार होता था। आधुनिक सन्दर्भ में आचार्य प्रोफेसर होता है, पाठक तथा प्रवाचक रीडर होते हैं, उपाध्याय लेक्चरर होते हैं, श्रोत्रिय प्रवक्ता होता है। इसी प्रकार विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ होते थे। वैदिक काल में आचार्य अथवा गुरु का स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित था। वह समाज को शिक्षित करने के साथ ही वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान भी प्रदान करता था।

शिक्षार्थियों का ब्रह्मचर्य जीवन

वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त पर आधारित थी। उपनयन संस्कार द्वारा आचार्य शिष्य को दूसरा जीवन देकर द्विज बनाता था। वह मृगचर्म तथा मेखला धारण करता था तथा लम्बे बाल रखता था। इस प्रकार छात्र सादा, सरल, संयमी जीवन व्यतीत करते थे। छात्र के लिए ब्रह्मचारी, अन्तर्वासी, शिष्य, माणवक आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। ब्रह्मचारियों के लिए भिक्षा, आचमन, प्राणायाम, मार्जन, गायत्रीपाठ, वेदाध्ययन, अभिवादन आदि कार्यो का विधान था। भिन्न-भिन्न शाखाओं के विशिष्टता प्राप्त शिक्षार्थियों के लिए अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था। जैसे – तित्तिरि आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तत्तिरीय कहलाते थे। शिक्षार्थी का अध्ययन काल 12 वर्ष से लेकर 32 वर्ष था। यह जीवनपर्यन्त भी हो सकता था।

वैदिक शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अनुशासन आत्मानुशासन था। आत्मा की तुरीयावस्था की प्राप्ति हेतु लालायित शिष्य स्वयं

को सर्वदा नियन्त्रित रखता था। इसके लिये ब्रह्मचारियों एवं आचार्यों के लिये निर्धारित नियम तथा संयम तत्कालीन शैक्षिक अनुसन्धान का द्योतक है। ब्रह्मचारी के भिक्षा के लिये जाने पर यह कहने का विधान था कि महोदय भोजन दीजिये। "यह अनुशासन का प्रथम पाठ था। निरुक्त के विद्या सूक्त में उल्लिखित है कि जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखे, कुटिल एवं असंयमी हो ऐसे शिष्य को विद्या ज्ञान नहीं देना चाहिए किन्तु जो पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान, ब्रह्मचारी, गुरु के प्रति सत्य हो उसे शिक्षा देनी चाहिए। अध्ययन काल में विद्यार्थी को सिर के बाल मुड़ाने का भी अनुशासन था। इस सम्बन्ध में नियम बताये गये हैं। अभिवादन भी नित्य, नैमित्तिक होता था। इस प्रकार सुदृढ़ आदर्शवाद भित्ति पर निर्मित वैदिक शिक्षा में आदर्शात्मक अनुशासन था।

ऋषि-मुनि यह जान चुके थे कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है जो मृत्यु के रहस्यों को जानकर हो सकती है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन आत्मा परमात्मा के ऐक्य को समझने में ही लगा दिया। डा. ए. एस. अल्तेकर ने लिखा है— "ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता की भावना, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति एवं राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण वैदिक शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे।

वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास करना है। इसके लिये आत्म सम्मान, आत्मविश्वास, आत्मसंयम, न्याय आदि गुणों का विकास करना है। शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करते हुए प्रो. शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है— "प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य को निसर्ग सिद्ध शक्तियों का सम्यक विकास करके उसे सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाना था जिससे वह जीवन की पहलियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियों का उत्थान

"धारणात् धर्माभिप्राहुः धर्मो धारयते प्रज्ञा।"

अर्थात् जिसको धारण करने से लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति हो। इस काल की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ईश्वरभक्ति तथा धर्म के नियमों का कठोरता से पालन करना था। इस उद्देश्यपूर्ति के लिए विभिन्न संस्कार थे। ब्रह्मचारी द्वारा दैनिक क्रिया, संध्योपासन, व्रतों का अनुपालन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे हैं। शौच, पवित्रता, आचार, स्नान आदि तथा सन्ध्योपासना व्यक्ति का धर्म था।

"उपनीय गुरुः शिष्य शिक्षयेच्छौचमादितः

आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च।"

ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था तथा शंका होने पर उसका निवारण करता था। धर्म आधारित नियमों का पालन करते हुए लौकिक तथा पारलौकिक जीवन को समझ पाने में सक्षम था। वह आध्यात्म का ज्ञान भी धर्म द्वारा ही करता था। मनुष्य के जीवन में तप, दान, अहिंसा, सत्य वचन व ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य माना गया क्योंकि ये धार्मिक प्रवृत्तियों के मूल थे।

मनुष्य को चारित्रिक शिक्षा देना

वैदिक कालीन शिक्षा में विद्वान होने से श्रेयस्कर चरित्रवान होना था। हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों के अनुसार तो मनुष्य के जीवन की सार्थकता चरित्र निर्माण के रहस्य में निहित है। सच्चरित्रता को व्यक्ति का आभूषण माना गया था। चूंकि विद्यार्थी जीवन को मनुष्य के जीवन का प्रभात कहा जाता था, अतः चरित्र निर्माण की दृष्टि से यह सर्वाधिक उपयुक्त काल था। जो धर्मवान तथा चरित्रवान था, वही पण्डित था। व्यक्ति को सत्

का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर वह तदनुकूल आचरण करता था। अपने विद्यार्थी जीवन में व्यक्ति चरित्र निर्माण करते हुए अपने कर्मों का पालन नियमपूर्वक करता था। ब्रह्मचारी का जीवन तप तथा नियम का जीवन था। अतः कहा गया है—

*“ब्रह्मचारी ब्रह्म भाजष विभर्ति,
तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदः।”*

समिधा तथा मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी धर्म तथा तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था

*“ब्रह्मचारी समिधा मेखलया,
धर्मेण लोकास्तपसा विभर्ति।”*

यह माना गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत पालन से ही राजा राष्ट्र का निर्माण करता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को दीक्षित करता था।

*“ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति,
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणातिच्छते।”*

तप ब्रह्मचर्य का आवश्यक अंग था। शौच, पवित्रता, स्नान संध्योपासन इसके प्रमुख तत्व थे जिसके द्वारा चरित्र का उत्थान होता है। गुरुकुलों के उत्तम वातावरण, महान विभूतियों के आदर्शों के द्वारा छात्रों के चरित्र का निर्माण किया जाता। डा. सैदमित्र ने बताया है— "The building of the character of student was deemed as one of essential objects of Education."

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास

शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। शिक्षा से व्यक्ति विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता है। इससे व्यक्ति के अन्दर आत्मसंयम, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, आध्यात्मिकवृत्ति का उदय होता है।

वैदिक काल में माना गया है कि आत्मविश्वास होने पर ही व्यक्ति का सर्वांगीण

विकास हो सकता है। इसी कारण वह गुरु के सान्निध्य में रहता था तथा गुरु उसमें आत्मविश्वास का विकास करता था।

शिक्षा प्रारम्भ से पूर्व ही बालक का आत्मविश्वास जागृत करने के लिए अग्नि से प्रार्थना की जाती थी वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखें तथा उसकी बुद्धि, मेधा व शक्ति वृद्धि करें। अग्नि तेज का देवता था। अग्नि शिखाओं की भांति बालक को कीर्ति दे तथा यश सभी दिशाओं में फैले। अनेक देवताओं के पूजन से यह माना जाता था कि सभी देवतागण उसकी रक्षा करेंगे।

सवितृ बालक की मृत्यु से, रोगों से रक्षा करता था— 'देव सवितरेव ते ब्रह्मचारी सा मा मत।' ब्रह्मचारी को आत्मसंयम की शिक्षा दी जाती थी जिसका अभिप्राय आत्मनियंत्रण से था। उसे अपने इन्द्रियों को नियंत्रित करने की शिक्षा दी जाती थी जिससे बालक के व्यक्तित्व का विकास निर्बाध गति से होता था।

नागरिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन

वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य बालकों को नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने योग्य बनाना भी था। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा उसे समाज में रहकर जीवन व्यतीत करना होता है।

नीति सम्बन्धी जीवन

नीति शब्द से तद्वित का ढक् लगाकर नैतिक शब्द बना है जिसका अर्थ है—नीति सम्बन्धी। नैतिक शब्द अपने अर्थ में उन विषयों को समेट लेता है। जिसका तात्पर्य नीति से है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही नीति की शिक्षा को महत्व दिया गया है। वैदिक काल में विद्यार्थी गुरुकुलों में रहते थे तथा समस्त अवगुणों से रहित हो गुरु

के समीप बैठकर सदाचार की शिक्षा प्राप्त करते थे। सत्य, अहिंसा, तप आदि गुणों का विकास गुरु करते थे। उन्हें धर्मनीति सिखाई जाती थी। धर्म का परिवर्धन तथा संरक्षण करने की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिए चरित्र निर्माण भी आवश्यक था। उन्हें चित्तवृत्तियों का निरोध करना पड़ता था। इसके विषय में डा. आर.के. मुखर्जी ने लिखा है— "The aim of education was chittivritti nirodh ; inhabitation of those activities of the mind by which it gets connected with the world of matter or object."

इस प्रकार मनुष्य का नैतिक विकास शिक्षक का परम कर्तव्य होता था। ऋग्वेद में वरुण को नीति का देवता माना गया है, जो अत्यन्त कठोर है।

प्राचीन शिक्षा पद्धति का अध्ययन एवं मनन करने पर गुरु-शिष्य सम्बन्धों के संदर्भ में उनके कर्तव्यों की स्थिति संक्षेप में निम्न प्रकार स्पष्ट होती है—

छात्रों के कर्तव्य

छात्रों के कर्तव्य गुरुओं के प्रति प्रमुख रूप से निम्नलिखित थे—

- 1) गुरुओं का पिता, राजा तथा ईश्वर के समान आदर करना।
- 2) छात्रों का बाह्य व्यवहार भी गुरुओं के प्रति उपयुक्त होना चाहिए। उन्हें गुरुओं का उचित ढंग से अभिवादन करना चाहिए। उन्हें गुरु के समक्ष उच्च आसन नहीं ग्रहण करना चाहिए। उन्हें आकर्षक वस्त्र भी गुरु के सामने नहीं धारण करना चाहिए।
- 3) उसके लिए परनिन्दा निषेध था।
- 4) गुरु की आज्ञा का पालन करना। गुरु-गृह की अग्नि को प्रज्वलित रखना।

- 5) गुरु की गायों को चराना, ईधन इकट्ठा करना, बर्तन साफ करना, गुरुगृह की सफाई करना।
- 6) सादा जीवन व्यतीत करना, विद्याध्ययन करना, संयमित जीवन को अपनाना तथा साधारण तथा उत्तेजनारहित भोजन करना।
- 7) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।
- 8) भिक्षा माँगना प्रत्येक छात्र का धार्मिक कर्तव्य था। यह विश्वास किया जाता था कि भिक्षान्न के अलावा कोई भोजन पवित्र नहीं है। इस प्रथा के पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारण छिपे थे। पहले, इसके द्वारा विद्यार्थियों में ऊँच-नीच की भावना समाप्त हो जाती थी। गरीब से लेकर राजा तक के लड़कों को भिक्षा माँगना अनिवार्य था। इसके कारण उनके अंदर किसी प्रकार की हीनता की भावना नहीं उत्पन्न होने पाती थी। दूसरे, इस प्रथा के द्वारा बालकों को समाज की वास्तविकताओं से परिचित कराया जाता था। तीसरे, बालकों में समाज सेवा की भावना उत्पन्न करने के लिए भी यह प्रथा अनिवार्य बना दी गयी थी। चौथे, इस प्रथा के द्वारा बालकों में विनम्रता, दया, सहानुभूति तथा परोपकारिता के गुणों का प्रादुर्भाव होता था।

गुरुओं के कर्तव्य

गुरुओं के कर्तव्य छात्रों के प्रति निम्नलिखित थे—

1. गुरु छात्र का मानसिक तथा आध्यात्मिक पिता समझा जाता था, अतः वह छात्रों की न्यूनताओं के लिए उत्तरदायी होता था।

2. वह विद्यार्थियों के आचरण पर नियंत्रण रखता था, तथा उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान कराता था।
3. वह छात्रों को भोजन, स्वास्थ्य तथा शयन के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश देता था।
4. गरीब छात्रों के ओजन तथा चिकित्सा की व्यवस्था करता था।
5. निःस्वार्थ भाव से शिक्षा देना तथा शिष्यों के यश की कामना करना।
6. शिष्यों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहायता प्रदान करना।
7. शिष्यों को जीवन के चरम सत्यों का ज्ञान प्रदान करना।
8. शिष्यों के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करना।

वैदिक काल में गुरु तथा शिष्य का सम्बन्ध किसी संस्था के माध्यम से न होकर प्रत्यक्ष हुआ करता था। विद्यार्थी प्रायः ऐसे गुरुओं के पास शिक्षा ग्रहण करने जाते थे, जो कि विद्वता तथा ज्ञान के लिए प्रसिद्ध होते थे। शिक्षक भी उन्हीं छात्रों को स्वीकार करता था, जो कि ईमानदार, सदाचारी तथा अपने उद्देश्यों में गम्भीर प्रतीत होते थे। विद्यार्थी गुरु के ही संरक्षण में रहते थे। गुरु शिष्यों से किसी प्रकार का शुल्क स्वीकार नहीं करता था, वरन् गरीब छात्रों को भोजन, वस्त्र तथा औषधि से सहायता करता था। इस प्रकार से विद्यार्थी भी गुरु-गृह के एक सदस्य के रूप में रहता था। में और आवश्यकता पड़ने पर उनके घरेलू कार्यों में भी सहायता करता था। ऐसी परिस्थिति में गुरु तथा शिष्य का सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ तथा स्नेहमय रहता था। वे पारस्परिक विश्वास, श्रद्धा तथा जीवन के समान आदर्शों के कारण एक दूसरे से बँधे थे। गुरु विद्यार्थियों का मानसिक तथा आध्यात्मिक पिता समझा जाता था। गुरु तथा शिष्य का यह सम्बन्ध विद्यार्थी जीवन के समाप्त होने के बाद भी पूर्ववत् बना

रहता था। शिक्षा-समाप्ति के बाद जब विद्यार्थी अपने घर लौट जाता था, तो भी उसे कभी-कभी दर्शन के लिए जाना पड़ता था और अपने साथ कुछ उपहार भी ले जाना पड़ता था, चाहे वह कितना तुच्छ क्यों न हो। शिक्षक भी विद्यार्थियों को देखने के लिए जाते थे। वे इस बात का पता लगाते थे कि छात्र कितनी सीमा तक अपने अध्ययन को बनाये रखे हैं। इस प्रकार से गुरु-शिष्य सम्बन्ध दोनों पक्षों के लिए लाभदायक था। वैदिक काल में गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध घनिष्ठ होने का सबसे बड़ा कारण यह था कि दोनों के जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था। अतएव दोनों एक ही मार्ग के पथिक थे और दोनों संयुक्त प्रयत्न तथा सहयोग द्वारा जीवन के चरम सत्यों को प्राप्त करना चाहते थे।

संदर्भ सूची

1. अल्तेकर, ए. एस, एजुकेशन इन एन्सिएन्ट इण्डिया।
2. आचार्य, लक्ष्मीचन्द्र, भारतवर्ष की वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति, संजय प्रकाशन, दिल्ली।
3. डा. बी. बी. अग्रवाल, आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएँ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
4. डा. एल.बी. बाजपेयी, भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामयिक प्रवृत्तियाँ, आलोक प्रकाशन, लखनऊ।
5. डा. सीताराम जायसवाल, भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएँ, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ।
6. डा. सुरेन्द्र झा, प्राचीन शिक्षा पद्धति, आशुतोष प्रकाशन, लखनऊ।
7. श्रीमती उर्मिला रस्तोगी, मनुस्मृति, परिमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
8. प्रो. वाई. एस., भारतीय संस्कृति, हंसा प्रकाशन, जयपुर।